बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 3

समुचित हस्तक्षेप की अवस्था!

जैसे-जैसे देश की अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण हो रहा है, देश के नियामकों के समक्ष मौजूद चुनौतियां और अधिक जटिल होती जा रही हैं। ज्यादातर क्षेत्रों में ऐसा ढांचा देखने को मिल रहा है जहां विजेता को सबकुछ हासिल होता है। 'सामान्य' प्रतिस्पर्धी बाजारों में नियामकों के समक्ष तयशुदा लक्ष्य होते हैं और उन्हें हासिल करने के उपाय भी चुनिंदा होते हैं। वे यह सुनिश्चित करने के लिए हस्तक्षेप करते हैं कि व्यावसायिक समूहन न हो, गैर प्रतिस्पर्धी तौर तरीकों का इस्तेमाल न किया जाए। इस मामले में आम धारणा यह है कि अगर बाजार को अपने स्तर पर काम करने दिया जाए तो वह स्वयं उपभोक्ताओं के हित का ध्यान रख सकता है और नियामक का काम केवल यह सुनिश्चित करना है कि कोई बाजार प्रतिभागी के कामकाज में विसंगति पैदा करने का प्रयास न करे।

बहरहाल, आधुनिक अर्थव्यवस्था में कई क्षेत्र नेटवर्क प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। दूसरे शब्दों में, कंपनियां जितनी बड़ी होती हैं, उतनी ही अधिक मुनाफा कमाने वाली या किफायती होती जाती हैं। इससे नैसर्गिक एकाधिकार उत्पन्न होता है। अतीत में उपयोगिता वाले क्षेत्र या बुनियादी ढांचा जैसे क्षेत्र ऐसे नैसर्गिक एकाधिकार के शिकार हो चुके हैं, इसलिए उनका अलग तरह से नियमन करने की आवश्यकता पड़ी। बहरहाल, अब नेटवर्क प्रभाव अर्थव्यवस्था के कई प्रमुख क्षेत्रों का अहम कारक है। इनमें वे क्षेत्र भी शामिल हैं जिनमें निजी क्षेत्र का दबदबा रहा है। बहरहाल, ऑनलाइन क्षेत्र का उदाहरण लेते हैं। यहां गूगल की नियंत्रक कंपनी अल्फाबेट का दबदबा है। यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि कोई ऐसा सर्च इंजन सामने आएगा जो गूगल का मुकाबला कर सके। ऐसे में अल्फाबेट को गैर प्रतिस्पर्धी ढंग से व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं है।

हमारे देश में कई ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। दूरसंचार भी ऐसा ही एक क्षेत्र है। रिलायंस जियो के आगमन का अर्थ यह था कि इस क्षेत्र के अन्य कई बाजार प्रतिभागियों की विदाई होगी क्योंकि उनके पास रिलायंस इंडस्ट्रीज के समान धन-संसाधन नहीं थे। अगर कोई पुरानी कंपनी आक्रामक कीमतों की पेशकश करती तो नियामक को यह पता होता कि उसे क्या करना है लेकिन अगर कोई नवागत कंपनी कम कीमत पर बेहतर उत्पाद दे रही है तो? ऐसे में नियामक को कब और कहां हस्तक्षेप करना चाहिए? यह समस्या केवल दूरसंचार क्षेत्र तक सीमित हो ऐसा भी नहीं है। जरा नागरिक उड्डयन क्षेत्र पर विचार कीजिए। कोई विमानन कंपनी जो अपनी उड़ानें भर रही है, वह अपनी आखिरी की सीटें सस्ती बेच सकती है क्योंकि उनकी सीमांत लागत तकरीबन शून्य होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले से अच्छा प्रदर्शन कर रही विमानन कंपनी के लिए लाभ ही लाभ है। उदाहरण के लिए भारत में इसका अर्थ यह है कि बाजार में इंडिगो का दबदबा बरकरार है।

अन्य क्षेत्रों में भी जल्दी नेटवर्क प्रभाव नजर आ सकता है। उदाहरण के लिए ई-रिटेल उपभोक्ता आधार में विस्तार के साथ अधिक प्रभावी हो सकता है। ऑफलाइन खुदरा कारोबारियों या लॉजिस्टिक्स का पहले से मौजूद नेटवर्क किसी कंपनी को वह किफायत दे सकता है जिसके लिए अन्य कंपनियों को संघर्ष करना होगा। नियामक ऐसे क्षेत्र का प्रबंधन कैसे करेंगे जहां कुछ कंपनियां बाहरी कारकों के कारण ज्यादा बेहतर हों। कीमतों और मात्रा के निर्धारण की बात करें तो भारतीय संदर्भ में यह कोई हल सुझाता नहीं नजर आता। देश में विजेता को सब कुछ मिलने की स्थिति को बदलने के लिए नियामकीय हस्तक्षेप को लेकर अधिक सशक्त बहस की आवश्यकता है। एकाधिकार स्थापित होने तक प्रतीक्षा करने पर बहुत देर हो जाएगी। इस मामले में उपभोक्ता कल्याण को लेकर दूरगामी दृष्टि की जरूरत है।

अजय मोहंती

प्रबंधकीय कौशल में निजी क्षेत्र बनाम सरकार

सरकारी कार्यप्रणाली के उलट एक निजी फर्म का प्रबंधन काफी हद तक निरंकुश ही होता है। ऐसी स्थिति में उसके प्रबंधन कौशल का सरकार में इस्तेमाल काफी मुश्किल है। बता रहे हैं **अजय शाह**

भारत में किसी फर्म के संचालन के बारे में हम काफी कुछ जानते हैं। लेकिन कंपनियों के प्रबंधन से अर्जित ज्ञान को सरकार के प्रबंधन तक स्थानांतरित कर पाना बहुत कम ही हो पाता है। सरकारों को अशक्त फीडबैक लूप का सामना करना पड़ता है। किसी भी सरकार का सार कही जाने वाली बाध्यकारी शक्ति का कंपनियों में अभाव होता है। सरकार का आकार और जटिलता निजी क्षेत्र की सबसे बड़ी एवं सर्वाधिक जटिल कंपनियों से काफी बड़ी होती है। सरकार के प्रमुख अवयव- नीति एवं वार्तालाप, निजी क्षेत्र में नहीं दिखाई देते हैं। नीति एवं लोक प्रशासन की दुनिया कंपनियों में व्याप्त मुनाफे की दुनिया से बुनियादी तौर पर अलग है।

वर्ष 1991 के पहले भारत में अधिकांश कंपनियों का प्रबंधन खराब ढंग से होता था। लेकिन अब भारत में हमारे पास बेहद कुशलता से संचालित कंपनियों की बड़ी तादाद है। इन कंपनियों में अहम पदों पर कार्यरत लोग बड़े एवं जटिल संगठन चलाने की अपनी काबिलियत को लेकर काफी गर्व महसूस करते हैं। इसके साथ ही हम भारतीय राज्य को अव्यवस्थित रूप में भी देखते हैं जहां बुनियादी चीजें भी सही ढंग से नहीं हो पाती हैं। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या भारतीय निजी क्षेत्र के प्रबंधन कौशल एवं तकनीकों को सरकार के भीतर तक लाया जा सकता है?

इस दिशा में पहली समस्या तो फीडबैक लूप में ही निहित है। सभी बड़ी निजी कंपनियां शेयर बाजार में कारोबार के लिए सूचीबद्ध हैं और वे शेयर मूल्य में वृद्धि का लक्ष्य लेकर काम करती हैं। वित्तीय बाजारों में अटकलों की बड़ी मशीनरी सक्रिय होने से उस कंपनी के प्रदर्शन का वास्तविक पैमाना सामने आ जाता है। आंतरिक स्तर पर निजी फर्मों में परिचालन से संबंधित प्रबंधन सूचना प्रणाली (एमआईसी) दैनिक आधार पर दर्ज होती है। राजस्व एवं लाभ किसी भी फर्म के कामकाज को परखने के सहज उपकरण हैं। लेकिन जब मामला देश का आता है तो ये तमाम तरीके नदारद हो जाते हैं। विनिमय दर किसी भी देश की सफलता या नाकामी का सूचक नहीं है और शेयर बाजार सूचकांक भी एक कमजोर मानक ही है। निर्णय के स्तर और उसके प्रदर्शन को आंकने को लेकर कोई दैनिक मानक एवं फीडबैक लूप भी नहीं है।

उन्नत अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में भारत में यह समस्या और गंभीर है क्योंकि हम सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का भी आकलन सटीकता से नहीं करते हैं। सभी कंपनियों के समग्र प्रदर्शन, निवेश परियोजनाओं और परिवारों की स्थिति को दर्ज कर अब अर्थव्यवस्था के कामकाज के बारे में काफी हद तक उपयोगी रिपोर्ट कार्ड बनाया जा सकता है। लेकिन इसके बावजूद कमजोर फीडबैक लूप नीति के संचालन को बाधित करेगा।

विभेद का दूसरा बड़ा क्षेत्र सरकार की शक्तियों में निहित है। एक फर्म में प्रबंधन टीम उत्पाद, उत्पादन प्रक्रिया और आंतरिक संगठन को साधने वाले तरीके आजमाती है। लेकिन सरकार में आंतरिक संगठन के बारे में निर्णय-निर्माण की शक्ति होती है। हालांकि बाध्य करने की एकाधिकारिक शक्ति सरकार को निजी क्षेत्र से अलग करने वाला अहम अवयव है।

सरकार को हिंसा संबंधी मामलों में एकाधिकार होता है। वह निजी व्यक्तियों को कर देने या अपने व्यवहार में बदलाव के लिए बाध्य करने की क्षमता रखती है। सरकार की एजेंसियों का आम तौर पर एकाधिकार होता है। मसलन, ड्राइविंग लाइसेंस एक सरकारी कार्यालय से ही हासिल किया जा सकता है, उपभोक्ता के पास कोई और विकल्प नहीं होता है।

निजी फर्म अपनी आंतरिक गतिविधियों को ही नियंत्रित करती हैं और अपनी कंपनी के बाहर के लोगों को बाध्य नहीं कर सकती हैं। वे बाहर की तरफ व्यग्रता से देखती हैं और उपभोक्ताओं की अपने उत्पादों के प्रति प्रतिक्रिया को लेकर फिक्रमंद रहती हैं। किसी कंपनी के मेहनत से तैयार उत्पाद को खारिज करने की पूरी शक्ति उपभोक्ताओं के पास रहती है। इसके विपरीत, सरकारी एजेंसियां अपने क्षेत्र की आंतरिक गतिविधियों को नियंत्रित करती हैं और उसके बाहर के लोगों को बाध्य करती हैं। मनीष सभरवाल की व्याख्या के मुताबिक एक ठेठ सरकारी एजेंसी के उपभोक्ता नहीं बल्कि बंधक होते हैं। सरकारी संगठनों के बारे में एक बुनियादी अहंकार होता है जबकि निजी संगठन उससे बचे रहते हैं। लोक नीति की पहेली छापा मारने और जेल में डालने की शक्ति रखने वाले कर्मचारियों में निहित होती है।

निजी एवं सार्वजनिक प्रबंधन के बीच असमानता का तीसरा आयाम आकार और जटिलता है। भारत में किसी बड़ी कंपनी के भी कर्मचारियों की संख्या 25,000 होती है। इसकी तुलना में किसी भी सरकारी निकाय का आकार काफी बड़ा होता है। भारतीय रेलवे में ही करीब 13 लाख कर्मचारी हैं। अगर रेलवे के सक्षम कर्मचारियों की संख्या इसकी आधी है तो भी यह निजी क्षेत्र की तुलना में एक विशाल एवं जटिल संगठन बन जाता है।

लोक नीति की प्रक्रिया न केवल कर्मचारियों बल्कि सभी लोगों के जरिये संचालित होती है। यह निर्णय निर्माण की जटिलता बढ़ा देता है। नीतिगत निर्णयों के दौरान विशाल जटिल सरकारी संगठनों के आंतरिक व्यवहार और फिर एक अरब से अधिक की संख्या वाली जनता की प्रतिक्रिया को भी ध्यान में रखना होता है। किसी भी निजी फर्म में इस तरह की जटिलता नहीं देखी जाती है।

आखिर में, लोक नीति के सार-नीतिगत चिंतन और वार्तालाप पर गौर करते हैं। सरकार के भीतर एक नीति को सही बनाने की प्रवृत्ति देखी जाती है और फिर उस नीति को विवेकाधीन के दायरे से परे एवं गैर-नियोजित ढंग से संचालित किया जाता है। बड़ी संख्या में लोग उस नीति का हिस्सा बनेंगे और अपनी पसंद चुनेंगे और कोई भी संवेदनशील सरकार एक नियोजित ढंग से बरताव नहीं करेगी।

सरकार सामान्य ढांचे से भरा वह दायरा होता है जो बड़े स्तर पर काफी अच्छे नतीजे देते हैं। इसके उलट एक निजी फर्म विविध बिंदुओं वाले अनुबंधों का बड़ा जोड़ होता है। निजी कंपनी में समान बरताव वाला कोई प्रावधान नहीं होता है।

एक निजी फर्म का प्रबंधन काफी हद तक निरंकुश मिजाज वाला होता है, क्योंकि उसके नियंत्रण में उसका स्टाफ ही होता है। इसके उलट, लोक नीति में शक्ति के बिखराव की जरूरत होती है। सफल सरकारों में बातचीत और समझौते की अंतहीन प्रक्रिया चलती है क्योंकि सरकार के बाहर के लोगों को बाध्य करना ही सरकार का सार है। लोक नीति की दुनिया में नेतृत्व के पास दूसरे की बात सुनने, उसकी राय का सम्मान करने और मध्यम मार्ग अपनाने का गुण होना चाहिए। यह सांगठनिक संस्कृति अधिकांश निजी फर्मों से काफी अलग है।

यह देखना दिलचस्प है कि कुछ बेहद बड़ी एवं जटिल फर्मों का सांगठनिक डीएनए सरकार की रणनीतियों की तरफ मुड़ा है। बड़ी एवं जटिल फर्मों ने मुख्य कार्याधिकारियों (सीईओ) की शक्तियां कम कर दी हैं, निर्णय-निर्माण ढांचे को विभक्त किया है और विवेकाधीन निर्णयों के बजाय नियमों पर अधिक जोर देना शुरू किया है। इस सांगठनिक विकास को सौ या हजार गुना स्तर पर ले जाना लोक प्रशासन की चुनौती है। भारत में हम सफलता एवं समृद्धि को सम्मान की नजर से देखते हैं और कारोबारी तबके के प्रति भी काफी इज्जत है। हम यह मान लेते हैं कि टीसीएस में अपनाई जाने वाली पुख्ता मानव संसाधन नीतियां सरकार में भी अच्छी तरह काम करेंगी। लेकिन हमें इस विशेषज्ञता को लोक नीति की दुनिया में स्थानांतरित करने को लेकर सावधानी बरतनी चाहिए। एक देश कोई कंपनी नहीं होता है।

(लेखक नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनैंस ऐंड पॉलिसी, नई दिल्ली में प्रोफेसर हैं)

लोकतांत्रिक गणराज्य में संस्थाओं का संयम रखना जरूरी

बाअदब
सोमशेखर सुंदरेशन

यह गणराज्य राजनीतिक एवं संवैधानिक टकराव के अभूतपूर्व दृश्य देख रहा है। हालांकि आम चुनावों के तेजी से नजदीक आने से ऐसा होना अप्रत्याशित भी नहीं है। अगर तमाम संवैधानिक संस्थानों में एक खास प्रवृत्ति ही फैली हुई है तो पता चलता है कि संवैधानिक संस्थान किस तरह संयम बरतने से दूर हैं।

एजेंसियों और विविध संवैधानिक भूमिकाओं के लिए निर्धारित संस्थानों में टकराव होना पूरी तरह बुरा भी नहीं है। असल में, ऐसे संघर्ष उस राजनीतिक नियंत्रण एवं संतुलन को प्रोत्साहित करते हैं जिसकी परिकल्पना संविधान में की गई है। यही वजह है कि संस्थानों के मिलकर काम करने और आपसी संघर्ष से परहेज करने की वकालत करने वाले लोग इस संघर्ष में निहित मूल्य को समझ नहीं पाते हैं। जब एक राज्य सरकार केंद्र की जांच एजेंसियों के खिलाफ खड़ी होती है तो इसका बुरा होना कोई जरूरी नहीं है। जब केंद्रीय जांच एजेंसी इस मामले में दखल के लिए उच्चतम न्यायालय का दरवाजा खटखटाती है तो यह एक अच्छी बात होती है। आखिर उच्चतम न्यायालय पक्षपात-रहित हस्तक्षेप का सही मंच है।

फिर भी यह याद रखना अहम है कि संघर्ष की अनवरत स्थिति का होना अच्छी बात नहीं है। जब कोई संस्था अपने लिए निर्धारित कार्य का निर्वहन करती है और उसका अन्य संस्थाओं से टकराव होता है तो वह एक अच्छी बात है लेकिन अपनी भूमिका का गलत इस्तेमाल करने से पैदा होने वाला टकराव अच्छा नहीं है। ऐसी स्थिति में अक्सर यह सवाल खड़ा हो जाता है कि क्या वास्तव में संस्था ने अपनी भूमिका का उल्लंघन किया है? उस समय न्यायालयों को ही विवाद के समाधान के लिए आगे आना पड़ता है।

राजकाज में दक्ष व्यक्ति की तरह परिपक्व तरीके से किसी संघर्ष के समाधान का अहम पहलू यह है कि संस्थान और उनकी बागडोर संभालने वाले लोग संयम बरतें। अपने चारों तरफ नजर दौड़ाने पर आपको दिख जाएगा कि संघर्ष की स्थिति में संयम लगभग नदारद ही रहता है। कई उदाहरणों से संयम की यह कमी देखी जा सकती है।

जब संविधान के निर्माताओं ने यह प्रावधान रखा कि लोकसभा का अध्यक्ष ही किसी प्रस्तावित विधेयक के 'धन विधेयक' होने के बारे में अंतिम रूप से फैसला कर सकता है तो उसके पीछे यही सोच थी कि इस उच्च पद पर बैठा व्यक्ति यह तय करने का जरूरी संयम रखेगा कि उस विधेयक पर राज्यसभा को चर्चा करने की जरूरत नहीं है। लेकिन इतिहास बताता है कि हमारे संविधान निर्माताओं का यह भरोसा गलत साबित हुआ है।

जब भारतीय गणराज्य का गठन एक सच्चे लोकतंत्र के तौर पर होने के बावजूद सशस्त्र बलों के लिए आंतरिक लोकतंत्र को निलंबित रखा गया तो इस ढांचे के पीछे यही भरोसा था कि सशस्त्र बलों का नेतृत्व संयम की एक अंतर्निहित व्यवस्था बनाएगा कि इस संरक्षण का किस तरह इस्तेमाल किया जाए। फिर भी, सशस्त्र बलों में अर्दली (अब उन्हें सहायक कहा जाता है) की दासता की हद तक जाने वाली व्यवस्था बदस्तूर जारी है।

जब सेना को लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई सरकार के अधीन बनाया गया था तो उम्मीद यही थी कि नेतृत्व संयम का परिचय देगा और तय नियमों से चलेगा। असल में, सैन्य नेतृत्व हर दूसरे दिन खबरों में रहता है। लेकिन इसकी वजह यह है कि वे सामाजिक मुद्दों से लेकर दूसरे देशों के साथ संबंधों तक के मसले पर खुलकर अपनी राय रखते हैं।

जब राज्यपालों को एक राजनीतिक दल या एक गठबंधन को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने या राज्य में कानून व्यवस्था की हालत खराब होने के बारे में रिपोर्ट देकर लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकार को हटाकर वहां राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करने की शक्ति दी गई थी तो उसके पीछे यही सोच थी कि इस उच्च पद पर आसीन व्यक्ति संयम का परिचय देते हुए फैसले करेगा। हालांकि इतिहास इस धारणा को गलत साबित करता है। जब संवैधानिक अदालतों को न्यायिक समीक्षा की शक्ति दी गई थी तो उसके पीछे यही धारणा थी कि न्यायाधीश संयम बरतेंगे और समाज एवं इसके सदस्यों की किस्मत तय करने वाले कार्यकारी फैसले वाले आईएएस अधिकारी नहीं बनना चाहेंगे। जब संविधान के अनुच्छेद 142 ने उच्चतम न्यायालय को न्याय देने के लिए कोई भी आदेश जारी करने की शक्ति प्रदान की थी तो कभी भी यह नहीं सोचा गया था कि यह प्रावधान कानून बनाने और उसके अनुपालन का अनूठा न्याय-क्षेत्र बना देगा। यह स्थिति पृथक शक्तियों के बीच घालमेल कर देती है।

जब संसद ने नियामकीय एजेंसियों को विधायी, कार्यकारी एवं अर्द्ध-न्यायिक भूमिकाएं निभाने के लिए अधिकार प्रदान किए थे तो उसके पीछे यही सोच थी कि इन संस्थानों के प्रमुख अलग-अलग क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभाने के दौरान संयम का परिचय देंगे और वे आंतरिक अनुशासन का मामला मानते हुए इन प्रकार्यों को अलग रखेंगे। लेकिन यह अपेक्षा पूरी तरह गलत साबित हुई है।

गणतंत्र के अस्तित्व में आने के 70वें साल में हम आम चुनाव की तरफ बढ़ रहे हैं। ऐसे में इस बात पर गौर करने का वक्त आ गया है कि क्या महज चुनाव कराना ही लोकतंत्र है या फिर हमारे लोकतांत्रिक गणराज्य को मिलजुलकर आकार देने वाली विभिन्न संस्थाओं की कार्यप्रणाली में व्यापक संरचनात्मक एवं ढांचागत सुधार की बड़ी जरूरत खड़ी हो गई है।

(लेखक अधिवक्ता एवं स्वतंत्र परामर्शदाता हैं)

कानाफूसी

आम चुनाव पूर्व हवा का रुख

जब भी आम चुनाव आता है, राजनीतिक दलों में मची उथल-पुथल से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हवाएं किस दिशा में बह रही हैं। कुछ ऐसे नेता भी हैं जिनकी दलबदल की प्रवृत्ति इस बारे में काफी कुछ कह देती है। उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर के मीरापुर से भाजपा विधायक अवतार सिंह भडाना भी ऐसा ही एक नाम हैं। भडाना 2014 के संसदीय चुनाव के पहले कांग्रेस छोड़कर भाजपा में आए थे और अब उन्होंने दोबारा अपने पुराने दल का रुख कर लिया है। स्वयंभू गुज्जर इमाम कहे जाने वाले भडाना फरीदाबाद और मेरठ से कांग्रेस के सांसद रह चुके हैं। उन्हें हरियाणा के नेता बंसीलाल राजनीति में लाए थे। भडाना अलग-अलग समय पर जनता दल, इंडियन नैशनल लोकदल और समाजवादी पार्टी में भी रह चुके हैं।

कैबिनेट से संदेश

कमलनाथ के नेतृत्व वाली मध्य प्रदेश की कांग्रेस सरकार ने पिछले दिनों अपनी कैबिनेट बैठक राजधानी भोपाल के स्थान पर जबलपुर शहर में आयोजित की। सन 1956 में मध्य प्रदेश के गठन के बाद यह पहला अवसर था जब कैबिनेट की बैठक किसी अन्य शहर में आयोजित की गई। जबलपुर में कैबिनेट की बैठक आयोजित करने की पहली मांग कांग्रेस के राज्य सभा सदस्य विवेक तन्खा ने उठाई थी। गौरतलब है कि जबलपुर महाकौशल क्षेत्र का केंद्र है और इस क्षेत्र में 36 से अधिक विधानसभा सीट आती हैं। कहा जाता है कि जबलपुर के लोग भोपाल को राजधानी बनाए जाने के कारण ठगा सा महसूस करते हैं। कमलनाथ खुद छिंदवाड़ा से आते हैं जो महाकौशल का ही हिस्सा है। वह इस क्षेत्र के लोगों को यह संदेश देना चाहते थे कि यह क्षेत्र उनकी प्राथमिकता में है।

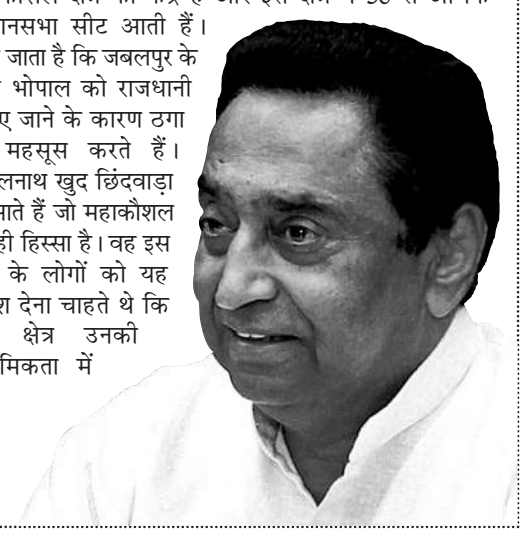

आपका पक्ष

सुदृढ़ अर्थव्यवस्था की रूपरेखा जरूरी

देश में कर प्रणाली से जुड़े सुधारों ने अप्रत्यक्ष कर राजस्व को बढ़ाया है। आयकर ब्योरा जमा करने वाले लोगों की तादाद भी बढ़ी है। बैंकिंग व्यवस्था के समावेशीकरण तथा डिजिटल लेनदेन ने आबादी के बहुत बड़े हिस्से को औपचारिक रूप से आर्थिक तंत्र से जोड़ा है। लेकिन सरकार के सामने कई समस्याएं अब भी बरकरार है। अन्य उभरती और विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों की तुलना में भारत में आयकर देने वालों का अनुपात कम है और आय की सीमा बढ़ने से प्रत्यक्ष कर राजस्व में कमी आएगी। लेकिन इससे कम आय वर्ग के बचत में बढ़ोतरी होगी। यह बचत निवेश और उपभोग में योगदान कर अर्थव्यवस्था को आगे ले जाने में मददगार साबित हो सकती है। घरेलू और विदेशी बाजारों में हालिया उथल-पुथल से परेशान उद्योग जगत को भी सरकार से कई आस है। वहीं ग्रामीण भारत के संकट से किसान परेशान हैं और उनकी

आमदनी कम होने से बाजार में मांग भी घटी है। इसका असर उत्पादन और उपभोग पर पड़ना स्वाभाविक है। अत: सरकार को देश की अर्थव्यवस्था को दुरुस्त करने की जरूरत है। एक फरवरी को पेश अंतरिम बजट में सरकार ने कई वर्गों को राहत प्रदान की है। सरकार ने न्यूनतम आय, बेरोजगारी भत्ता देने की भी घोषणा की है। किसानों

सरकार की कर्जमाफी योजना से राजस्व घाटा बढ़ेगा जिसका असर अर्थव्यवस्था पर पड़ेगा

का कर्ज माफ करने की भी घोषणा की है। लेकिन सरकार की घोषणाओं का अर्थव्यवस्था पर कहीं प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

शैलेंद्र कुमार पांडेय, पटना

कर्जमाफी एक गलत प्रयास

वोट की राजनीति के अंतर्गत अब नेता कर्जमाफी का शगूफा छोड़ने लगे हैं और सत्ता पाने के बाद ही कर्जमाफी की घोषणा भी करने लगे हैं। सरकार किसानों के दो लाख रुपये तक के कर्ज को माफ कर रही है। भले ही सरकार का घाटे का बजट हो उससे उन्हें कोई लेना देना नहीं है। इस गलत परंपरा से अब व्यापारी-विद्यार्थी भी मांग उठाने लगे हैं कि किसानों की तरह उनके कर्ज भी माफ किए जाएं। इससे देश की वित्तीय और आर्थिक स्थिति भयावह बन जाए तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। ऐसे में कर्जमाफी करना अत्यंत आत्मघाती साबित होगा तथा यह लोगों में विपरीत भाव पैदा करेगा जो मुफ्त में खाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देगा। अत: सरकार इस प्रकार की माफी पर पाबंदी लगाए ताकि लोग परिश्रम करें और अपने उद्योग धंधों को बढ़ाए।

घेवरचंद गोदीका, जयपुर

बेरोजगारी दूर करने की पहल

देश में बढ़ती बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए सर्वप्रथम जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण करना जरूरी है। वहीं छोटे-बड़े उद्योग में जनता की भागीदारी बढ़ाने की जरूरत है। बेहतर शिक्षा बेरोजगारी दूर कर सकता है इसके लिए गांवों में स्कूल, कॉलेज अधिक खोलने की जरूरत है। इससे शिक्षकों की मांग बढ़ेगी तथा शिक्षकों के पदों का सृजन होगा। गांवों में मकानों की कमी है तथा मकान बनाने के कार्य से भी रोजगार के अवसर मिल सकते हैं। वहीं हर गांव में पक्की सड़क बनने से वह शहरों से जुड़ सकेगा तथा बेहतर परिवहन होने से ग्रामीण लोगों को शहर में रोजगार के अवसर प्राप्त हो सकेंगे।

राकेश जैन, सतना

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।